

हास्यास्पद गरीबी रेखा

उत्सा पटनायक



बदकिस्मती से, आजकल के नव-उदारवादी योजनाकार सवाल ही गलत पूछते हैं: “खाद्यान्न सबसिडी कम कैसे की जाए?” वे यह सही सवाल नहीं पूछते कि “हम भारत की बहुसंख्य आबादी को दुनिया के निम्नतम उपभोग स्तर, यहां तक कि सबसे कम विकसित देशों से भी निचले स्तर से ऊपर कैसे उटाएं?”

योजना आयोग द्वारा गरीबी रेखा का हास्यास्पद अनुमान दरअसल 30 साल पहले पद्धति के स्तर पर की गई एक गलती का परिणाम है।

हाल ही में योजना आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष एक हलफनामा पेश करके कहा है कि किसी व्यक्ति को तभी गरीब माना जाता है जब ग्रामीण इलाके में उसका मासिक खर्च 781 रुपए प्रति माह (26 रुपए प्रतिदिन) या शहरी इलाके में 965 रुपए प्रति माह (32 रुपए प्रतिदिन) से कम हो। इस घोषणा ने स्पष्ट कर दिया है कि ये गरीबी रेखाएं यथार्थ से कितनी दूर हैं। कुछ टीवी चैनल्स ने यह मानकर कि इन आंकड़ों में सिर्फ भोजन का खर्च शामिल है, यह दर्शाने की कोशिश की कि आज की कीमतों पर इतने पैसे से मात्र न्यूनतम पोषण की ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो सकतीं। अलबत्ता, सच्चाई यह है कि इन थोड़े से रुपयों में सिर्फ भोजन नहीं, बल्कि सारी भोजनेतर ज़रूरतें भी पूरी करना है - जैसे कपड़े-जूते, रसोई ईंधन, प्रकाश व्यवस्था, यातायात, शिक्षा, चिकित्सा खर्च और मकान किराया वगैरह। उक्त राशि का विभाजन निम्नानुसार किया गया है - शहरी इलाकों में भोजन व भोजनेतर खर्च क्रमशः 18 व 14 रुपए, तथा ग्रामीण इलाकों में 16 व 10 रुपए। इस राशि में उस खाद्य सामग्री की कीमत भी शामिल है जो किसान खुद उगाते हैं और खाते हैं।

कोई बच्चा भी जानता है कि इतने कम पैसे में ठीक-

ठाक जीवन बसर नहीं किया जा सकता, न ही सारी ज़रूरियात खरीदी जा सकती हैं। हैरत की बात तो यह है कि 45 करोड़ भारतीय इस स्तर से नीचे जीने का चमत्कार कर रहे हैं। दरअसल यह कहना मुश्किल है कि वे सच्चे अर्थों में जीवित हैं: उनका ऊर्जा व प्रोटीन उपभोग सामान्य से बहुत कम है, वे कम वज़न से पीड़ित हैं, उनकी वृद्धि रुक चुकी है, वे बहुत ज़्यादा बीमार पड़ते हैं और उनके पास पर्याप्त भोजन या चिकित्सा सुविधा प्राप्त करने के साधन नहीं हैं। इनमें से अधिकांश लोग अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति वर्ग से हैं। वास्तव में सरकारी गरीबी रेखा अब गरीबी को नहीं नापती, यह भुखमरी को नापती है।

इस भुखमरी रेखा को गरीबी रेखा कहने पर जो रोष उभरा है, वह जायज़ ही है। वास्तविक गरीबी रेखा इससे कहीं अधिक ऊपर है और उससे तुलना करने पर पता चलता है कि भारत के 75 प्रतिशत लोग गरीब हैं। पिछले दो दशकों में प्रति व्यक्ति ऊर्जा व प्रोटीन का उपभोग कम होता गया है क्योंकि आबादी का एक बड़ा हिस्सा पर्याप्त भोजन नहीं जुटा पाता। 2011 के मध्य में हमारा सार्वजनिक खाद्यान्न भंडार 6 करोड़ टन था जो बफर मानकों से कहीं ज़्यादा था। अक्लमंद नीति यही होती कि लक्ष्य-आधारित व्यवस्था को तिलांजलि दे दी जाती और सबके लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अपना लिया जाता और इसे शहरी रोज़गार निर्माण योजना से जोड़

दिया जाता। बदकिस्मती से, आजकल के नव-उदारवादी योजनाकार सवाल ही गलत पूछते हैं: “खाद्यान्न सबसिडी कम कैसे की जाए?” वे यह सही सवाल नहीं पूछते कि “हम भारत की बहुसंख्य आबादी को दुनिया के निम्नतम उपभोग स्तर, यहां तक कि सबसे कम विकसित देशों से भी निचले स्तर से ऊपर कैसे उठाएं?”

योजना आयोग और तेंदुलकर समिति के सदस्य विशेषज्ञ हैं। तो ऐसा कैसे संभव हुआ कि उनकी

सांख्यिकीय मशक्कत से जीवन की न्यूनतम लागत का इतना हास्यास्पद आंकड़ा उभरा? तथ्य यह है कि करीब 30 साल पहले योजना आयोग ने एक पद्धति सम्बंधी गलती की थी और वर्तमान योजना आयोग उस गलती से कसकर चिपका हुआ है। यह इसके बावजूद कि इस

गलती की ओर कई लोग ध्यान दिला चुके हैं। गलती यह थी कि गरीबी रेखा की परिभाषा बदल दी गई थी और इसे पोषण के मानकों से काट दिया गया था।

गरीबी रेखा की मूल परिभाषा ठीक-ठाक ही थी। यह 1979 में एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों पर आधारित थी। इसके लिए उपभोग खर्च के आंकड़े राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से लिए गए थे। समिति का मत था कि प्रति व्यक्ति मासिक खर्च को गरीबी रेखा का आधार बनाया जाए। इस आंकड़े में भोजन पर खर्च का आंकड़ा इस बात पर आधारित था कि उससे ग्रामीण क्षेत्र में व्यक्ति को प्रतिदिन 2400 किलोकैलोरी तथा शहरी क्षेत्र में 2100 किलोकैलोरी ऊर्जा प्राप्त हो सके। आगे चलकर ग्रामीण आंकड़े को घटाकर 2200 किलोकैलोरी कर दिया गया था। आयोग ने विशेषज्ञ समिति की पोषण-आधारित परिभाषा को स्वीकार कर लिया मगर इसे एक बार ही लागू किया और 1973-74 की कीमतों के आधार पर यह तय किया गया कि 2200 व 2100 किलोकैलोरी प्राप्त करने के लिए क्रमशः 49 रुपए और 56 रुपए प्रति माह की ज़रूरत है। इसके आधार पर गणना की गई थी कि

ग्रामीण क्षेत्रों की 56 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों की 49 प्रतिशत आबादी प्रति व्यक्ति इससे कम मासिक खर्च करती है। यानी इतने लोग गरीब हैं।

इसके बाद आयोग ने अज्ञात कारणों से व्यवहार में इस परिभाषा को बदल दिया। उसके बाद आयोग ने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि कितने मासिक खर्च से वास्तव में मानक न्यूनतम पोषण प्राप्त किया जा सकता है। यह इसके बावजूद है कि इस सम्बंध में हर

यह समझ से परे है कि क्यों इन अर्थ शास्त्रियों को इतना भरोसा है कि मूल्य सूचकांक जीवन की लागत में वृद्धि को दर्शा सकता है। मूल्य सूचकांकों की ज़रूरत अल्पावधि के समायोजन के लिए होती है और इनका उपयोग महंगाई भत्ते की गणना के लिए किया जाता है।

पांच वर्ष में जानकारी एकत्रित की जाती है - भोजन उपभोग की मात्रा, और उससे मिलने वाली ऊर्जा, प्रोटीन व वसा की मात्रा। आयोग ने जो परिभाषा वास्तव में अपनाई वह थी कि 1973-74 के गरीबी रेखा के आंकड़े को मुद्रा स्फीती के आधार पर समायोजित किया जाएगा - यानी

समय-समय पर मूल्य सूचकांक के आधार पर नया आंकड़ा निकाल लिया जाएगा। इसमें इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा जाता कि क्या इस तरह से प्राप्त आंकड़ा ज़रूरी पोषण प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। पिछले 30 वर्षों से मूल्य सूचकांक आधारित समायोजन चल रहा है, और इसी का परिणाम है कि 26 रुपए और 32 रुपए जैसे असंगत आंकड़े उभर रहे हैं।

यह समझ से परे है कि क्यों इन अर्थ शास्त्रियों को इतना भरोसा है कि मूल्य सूचकांक जीवन की लागत में वृद्धि को दर्शा सकता है। मूल्य सूचकांकों की ज़रूरत अल्पावधि के समायोजन के लिए होती है और इनका उपयोग महंगाई भत्ते की गणना के लिए किया जाता है। मगर ये लंबी अवधि में जीवन की लागत में वृद्धि का अंदाज़ नहीं देते। 1973 में किसी केंद्रीय विश्वविद्यालय में एक एसोसिएट प्रोफेसर का मासिक वेतन लगभग 1000 रुपए था। यह पर्याप्त होता था क्योंकि आप राशन कार्ड का उपयोग कर सकते थे; इतनी आमदनी में कई लोग कार भी रखते थे। यदि शहरी गैर-शारीरिक कर्मचारियों के लिए मूल्य सूचकांक लागू करें (जो 2011 में 17 गुना

हो चुका है) तो योजना आयोग के तर्क के मुताबिक आज एसोसिएट प्रोफेसर का वेतन 17,000 रुपए मासिक होना चाहिए। मगर इतनी राशि से एक मध्यम वर्गीय परिवार की 40 साल पहले वाली जीवन शैली नहीं निभ पाएगी। फिलहाल, एक नव नियुक्त एसोसिएट प्रोफेसर का वास्तविक वेतन उपरोक्त आंकड़े से तीन गुना ज़्यादा है, जो विभिन्न वेतन आयोगों की सिफारिशों का परिणाम है।

मगर, अनुभव व प्रमाणों से आंख चुराते हुए, ये अर्थशास्त्री दावा करते हैं कि मात्र मूल्य सूचकांक आधारित समायोजन 40 साल पहले की गरीबी रेखा के आधार पर आज की गरीबी रेखा की गणना करने के लिए पर्याप्त है। तब कोई अचरज नहीं कि इन्होंने अपने अयथार्थ अनुमानों से हड़कंप मचा दिया है।

जिस कीमत पर न्यूनतम पोषण हासिल किया जा सकता था, वह आयोग द्वारा स्वीकृत मूल परिभाषा थी। समय के साथ, यह राशि आयोग की परिवर्तित परिभाषा के आधार पर की गई गणना से दूर होती गई है। 2005 में, एक ग्रामीण व्यक्ति को 2200 किलोकैलोरी हासिल करने के लिए 19 रुपए प्रतिदिन की ज़रूरत होती थी मगर सरकारी आंकड़ा 12 रुपए था। 12 रुपए से तो मात्र 1800 किलोकैलोरी मिलती थी। (तेंदुलकर समिति ने समस्या को सतही तौर पर ही देखा था, और 12 रुपए को बढ़कर 13 कर दिया था।) इसी वर्ष एक शहरी व्यक्ति को 2100 किलोकैलोरी प्राप्त करने के लिए 33 रुपए खर्च करने पड़ते थे मगर सरकारी आंकड़ा 18 रुपए रहा। वर्तमान में गरीबी रेखा के 26 रुपए और 32 रुपए के आंकड़ों में तो जीवन की न्यूनतम लागत और भी कम करके बताई जा रही है। गरीब और भी कम भोजन प्राप्त कर पाएंगे। कई राज्यों में सरकारी गरीबी रेखा 1500 किलोकैलोरी प्रतिदिन के लिए भी पर्याप्त नहीं है।

यह दावा सच्चाई से कोसों दूर है कि गरीबी कम हुई है। मूल्य सूचकांक के आधार पर समायोजन के चलते

प्राप्त राशि पोषण मानकों को स्थिर नहीं रख पाई है, बल्कि उन्हें लगातार कम करती गई है। क्या कभी भी, कहीं भी हमें सरकारी स्रोतों से ईमानदार आकलन नसीब होगा? इसकी संभावना बहुत कम है क्योंकि आज सैकड़ों अर्थशास्त्री एक वैश्विक गरीबी-आकलन ढांचे से जुड़ चुके हैं, जिसके शिखर पर विश्व बैंक विराजमान है। यह ढांचा हर साल बढ़ते क्रम में गुमराह करने वाले अनुमान प्रस्तुत कर रहा है। विश्व बैंक की वैश्विक गरीबी रेखा भी इसी स्तर का न्यून-आकलन है क्योंकि यह महज़ 'खरीद क्षमता समानता' के आधार पर स्थानीय मुद्रा को डॉलर में

बदलने पर टिकी है और इसके लिए विकासशील देशों की सरकारी गरीबी रेखा के आंकड़ों का ही उपयोग किया जाता है।

सवाल है कि सरकारी रूप से मान्य पोषण मानकों के आधार पर यथार्थवादी गरीबी रेखा क्या है।

गांवों और शहरों में क्रमशः 2200 व 2100 किलोकैलोरी के पोषण मानक की पूर्ति के लिए क्रमशः 1085 रुपए प्रति माह (36 रुपए प्रतिदिन) और 1800 रुपए प्रति माह (60 रुपए प्रतिदिन) की ज़रूरत है।

गणना से पता चलता है कि गांवों और शहरों में क्रमशः 2200 व 2100 किलोकैलोरी के पोषण मानक की पूर्ति के लिए क्रमशः 1085 रुपए प्रति माह (36 रुपए प्रतिदिन) और 1800 रुपए प्रति माह (60 रुपए प्रतिदिन) की ज़रूरत है। चूंकि हर पूर्णकालिक मज़दूर पर कम से कम दो व्यक्ति निर्भर होते हैं, इसलिए इसका अर्थ है कि न्यूनतम मज़दूरी 108 रुपए (ग्रामीण) तथा 180 रुपए (शहरी) होनी चाहिए। मगर यह भी अपर्याप्त होगी: इसमें आकस्मिक चिकित्सा खर्च, जीवन के विविध आयोजनों, बुढ़ापे वगैरह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

इस आधार पर देखें तो 2009-10 से राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़े दर्शाते हैं कि 75 प्रतिशत आबादी गरीब है। वंचना के इस उच्च स्तर का तकाज़ा है कि हम गैर-लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की ओर लौटें, हालांकि वह भी पर्याप्त नहीं होगा। रोज़गार सृजन योजनाओं के ज़रिए गरीबों की खरीद क्षमता बढ़ानी होगी। विडंबना यह है कि ताज़ा सर्वेक्षण बता रहे हैं कि बेरोज़गारी की दर भी बढ़ रही है। (स्रोत फीचर्स)